ISSN Print: 2394-7500
ISSN Online: 2394-5869
Impact Factor: 5.2
IJAR 2015; 1(11): 838-840
www.allresearchjournal.com
Received: 27-08-2015
Accepted: 29-09-2015

डॉ० दर्शन पाण्डेय
सहायक प्रोफेसर, शिवाजी कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय

Correspondence
डॉ० दर्शन पाण्डेय
सहायक प्रोफेसर, शिवाजी कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय

शंकर शेष कृत 'फंदी' नाटक: पाठ और प्रश्न

डॉ० दर्शन पाण्डेय

प्रस्तावना

वैसे तो साहित्य की प्रत्येक विधा अपने आप में महत्वपूर्ण होती है, समाज एवं व्यक्ति जीवन के लिए उनका महत्त्व भी निर्विवाद होता है। परंतु साहित्य की सभी विधाओं में नाटक ऐसी विधा है, जो अपनी दृश्य-श्रव्य समन्वित विशेषताओं के कारण प्रेक्षक एवं श्रोताओं पर प्रत्यक्ष रूप से प्रभाव डालती है, इस अर्थ में नाटक का महत्त्व अन्य विधाओं से अधिक हो जाता है। समकालीन हिन्दी नाटककारों में शंकर शेष ने भी नाट्य विधा को ही साहित्य सृजन का मुख्य लक्ष्य बनाया, उन्होंने कुल 18 पूर्ण नाटकों की रचना की, जिसमें 'फंदी' उनकी महत्वपूर्ण नाट्य कृति कही जा सकती है।

शंकर शेष के 'फंदी' नाटक का लेखन सन् 1971 में किया, इस नाटक के माध्यम से उन्होंने व्यक्ति, समाज और कानून के पारस्परिक संघर्ष को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। फंदी नामक पात्र या चरित्र के माध्यम से मानव जीवन से संबंधित एक गंभीर एवं ज्वलंत प्रश्न उठाया है कि मृत्यु की कगार पर खड़े कराहते मनुष्य को मृत्यु देना उचित है? या अनुचित? अपनी शारीरिक पीड़ा से मुक्त होने के लिए अपना अंत चाहने वाले व्यक्ति को मृत्यु देकर उसकी पीड़ा को खत्म कर देना कानून सम्मत है या नहीं? वस्तुतः मानवीय करुणा इस कृत्य को अपराध की कोटि में नहीं रखती। नाटककार ने कई ऐसे अनुत्तरित प्रश्न उठाए हैं जिनका समाधान वह समाज और कानून से चाहते हैं। नाटक के माध्यम से वर्तमान परिवर्तित परिस्थितियों में संवैधानिक नियमों की अनुपयोगिता और नवीन मानदंडों की स्थापना की ओर ध्यान आकर्षित करना नाटककार डॉ० शेष का मुख्य उद्देश्य रहा है।

नाटक का मुख्य पात्र 'फंदी' एक ट्रांसपोर्ट कंपनी में ड्राइवर है, उसे गाँजे की तस्करी करने को कहा जाता है। फंदी ईमानदार मुलाजिम होने के कारण इस ग़ैरकानूनी काम को करने से साफ इन्कार कर देता है, परिणामस्वरुप उसे नौकरी से निकाल दिया जाता है। फंदी गरीब था, अब बेकारी ने भी जकड़ लिया, जबकि उसके पिता जो जानलेवा कैंसर से पीड़ित हैं। गरीबी, बेकारी और पिता की लाईलाज बीमारी से उसके घर-गृहस्थी की हालत बद से बदतर हो जाती है। एक तरफ जहाँ रोटी की समस्या है, वहीं दूसरी ओर अपने पिता की बीमारी का इलाज कराने की समस्या है। परिणाम यह होता है कि उसे धीरे-धीरे अपनी पत्नी के गहने और घर के बर्तन तक बेचने पड़ते हैं। वह अपने पिता का इलाज कराने मुंबई जाता है, जहाँ बड़े डॉक्टर की बड़ी फ़ीस है, जिसे चुकाने के लिए वह सूदखोर से ब्याज पर पाँच सौ रुपये उधार लेता है, हर संभव प्रयास करने के बाद वह निराश होकर गाँव वापिस आ जाता है। इसके बाद भी जैसे तैसे वह अपने पिता का इलाज करवाता रहता है। कैंसर से पीड़ित पिता की तकलीफ़ इतनी बढ़ जाती है कि उसे बेहोशी का इंजेक्शन दिए बगैर नींद नहीं आती। डॉक्टर प्रत्येक इंजेक्शन के पाँच रुपए लेता है। गरीबी और बेकारी पर महंगाई की मार सहते हुए कितने दिन तक इलाज़ करवाया जा सकता है, एक दिन घर लौटते समय कर्ज़ देने वाला रास्ते में मिल गया और उधार का तकाज़ा करने लगा। उधार वापिस न देने की असमर्थता पर फंदी को बेइज़्ज़त करता है। घर पहुँचते ही राशन-पानी की बात पर पत्नी से क्लेश होता है, दूसरी तरफ पड़ोसी के बच्चे से पिटकर आया फंदी का बेटा रोते-रोते शिकायत करता है, वहीं पिता उससे पूछता है कि बेटा आज इंजेक्शन लगेगा कि नहीं? फंदी दुखी हो मना कर देता है। पीड़ा से कराहता पिता फंदी से कहता है- "बेटा इंजेक्शन दो या मौत- इंजेक्शन दो या मौत।" इंजेक्शन देने में असमर्थ फंदी आवेश और उधेड़बुन में उसके हाथ अपने पिता की गर्दन तक जकड़ लेते हैं। फंदी के हाथ इस तरह कस जाते हैं कि उसके पिता की मौत हो जाती है। फंदी का पिता जो इस नरक की जिंदगी से त्रस्त हो चुका था, वह जानता था कि उसके बेटे के पास इतना पैसा नहीं है कि उसके असाध्य रोग का इलाज़ करा सके, वह भी हँसते-हँसते मौत को अपना लेता है। यहीं पर नाटककार प्रश्न करता है की फंदी ने जो किया वह क़ानून और न्याय की दृष्टि से सही है या गलत? जिसका मरना निश्चित है उसे रोज तिल-तिल कर मरने से मुक्ति देना न्याय है या अत्याचार? कानून की दृष्टि क्या कहती है? और समाज इसे किस दृष्टि से देखता है? नाटककार के ये सभी प्रश्न पाठक और दर्शक के अंतर्मन को झकझोर देते हैं। डॉ० शंकर शेष ने फंदी के माध्यम से मानवीय जीवन से संबंधित निश्चित ही एक गंभीर एवं गहन प्रश्न उठाया है।

मर्मांतक पीड़ा से मुक्ति और हत्या के प्रश्न?

इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि फंदी ने अपने पिता जो मर्मांतक पीड़ा से व्यथित हो, अपने पिता का गला घोट देता है और उसके पिता की मृत्यु हो जाती है। परंतु क्या वाकई वह अपने पिता की हत्या का दोषी है? इस प्रश्न पर विचार करना जरूरी है। फंदी के अपने पिता से गहरे और भावात्मक संबंध थे, दोनों में कभी किसी बात पर झगड़ा नहीं हुआ। अतः विद्वेष या कटुता के कारण फंदी अपराध करने को प्रेरित हुआ, यह कहना गलत होगा। यह कहना भी गलत होगा कि फंदी के मन में अपने पिता की हत्या करने का इरादा था, इसके उलट वह चाहता था कि उसका पिता घातक बीमारी के चंगुल से निकल जाए। इलाज के लिए उसने

अपनी पत्नी के गहने बेच दिए, घर के कीमती सामान यहाँ तक कि बर्तन तक बेंचे, पिता के इलाज के लिए कर्ज़ तक लिया, पिता का इलाज़ कराने मुंबई ले गया, उसने हैसियत से बढ़कर पिता का इलाज़ कराया। क्या इसलिए कि उसके मन में अपने बाप की हत्या करने का विचार था? फंदी को अपने पिता की हत्या से क्या लाभ होने वाला था? क्या कोई जायदाद मिलती? या कोई ओहदा मिलता? शहर की मशहूर डॉक्टर ब्रम्हदेव ने बताया कि मुंबई से लौटने के बाद वह किसी भी दिन मर सकता था। यदि फंदी को अपने पिता की मौत ही प्यारी थी तो वह कुछ दिन रुक सकता था, मौत तो आ ही रही थी। यद्यपि यह भी सत्य है कि फंदी ने अपने पिता का गला घोंटा, जिसके कारण उसकी मृत्यु हो गई। जब फंदी अपने पिता का गला दबा रहा था, उसका पिता चुपचाप खाट पर लेटा था। आती हुई मौत को देखकर भी वह अपनी जान बचाने के लिए हाथ-पैर तक नहीं हिला रहा था, बचाव का कोई प्रयत्न नहीं कर रहा था, ऐसा लग रहा था जैसे उसको मनचाही कोई चीज़ मिल रही हो। क्या ऐसी मृत्यु को हत्या कही जाएगी? हत्या तो तब होती है जब हम किसी व्यक्ति की इच्छा के विरुद्ध उसकी हत्या कर जान ले लेते हैं, जिसमें जीने की इच्छा और उमंग हो। परंतु फंदी के पिता भगत राम की जीने की लेशमात्र भी इच्छा नहीं थी। इसके विपरीत वह मौत के लिए तरस रहा था, वह अपने बेटे से मौत मांगता था, अपनी बहू से मौत माँगता था। और तो और वह डॉक्टर ब्रह्मदेव से ज़हर देने के लिए कहता था। इस प्रकार उसकी असाध्य वेदना से सभी परिचित थे, उसके गिड़गिड़ा कर मौत माँगने की बात भी किसी से छिपी नहीं थी, अतः यह सारे तथ्य भी विचारणीय है।

किसी भी भयंकर अथवा लाइलाज़ बीमारी का पता जब मरीज़ को हो जाता है, उसके बाद वास्तविक मृत्यु आने तक का काल एक तड़पन, दर्द, कराह और चीख तथा नारकीय वेदना का काल बन जाता है। यदि इंसान को इस बात की उम्मीद हो कि इस भयानक नारकीय यातना के बाद फिर जीवन होगा तो व्यक्ति उस यातना एवं पीड़ा को साहस से सह सकता है, परंतु असाध्य रोग से ग्रसित व्यक्ति के लिए यह यातना केवल मौत तक प्रतीक्षा का रास्ता है। साहस का जन्म हमेशा जीने की इच्छा से होता है, मृत्यु की इच्छा से नहीं। लाइलाज एवं कष्टसाध्य मरीज़ का जीवन मानो अपने ही कंधो पर अपनी ही लाश ढ़ोने का असहाय जीवन है। यह यातना केवल इसलिए है क्योंकि इससे छुटकारा पाने की कोशिश करना (आत्महत्या) या कराना (यूथनेसिया/ दया मृत्यु) दोनों ही कानून के खिलाफ़ हैं।

फंदी नाटक के माध्यम से यूथनेसिया या जिसे दया-मृत्यु, इच्छा-मृत्यु अथवा मर्सीकिलिंग भी कह सकते हैं, इस पहलू से जुड़े महत्वपूर्ण पक्षों का उद्घाटन किया गया है। आखिर यह यूथनेसिया क्या है? इस प्रश्न पर विचार करना महत्वपूर्ण होगा। 'यूथनेसिया' एक ग्रीक शब्द है, जिसका अर्थ है- सुखद मृत्यु। सिद्धांत रूप में कहें तो यूथनेसिया से तात्पर्य अपनी जिंदगी को समाप्त करने का अधिकार है। यूथनेसिया के मुख्य रूप से तीन भेद हैं- (१) पैसिव यूथनेसिया (२) वालेंटरी यूथनेसिया (३) इन्वालेंटरी यूथनेसिया।

जब किसी रोगी को गंभीर बीमारी के कारण मृत्यु का वरण करने की छूट दी जाती है, तब उसे पैसिव यूथनेसिया कहा जाता है।

रोगी जब चिकित्सक अथवा अन्य व्यक्ति के समक्ष अपनी मृत्यु की इच्छा प्रकट करता है, तब उसे वालेंटरी यूथनेसिया कहा जाता है।

जब किसी चिकित्सक द्वारा रोगी की इच्छा पूछे बगैर उसे मृत्यु दे दी जाती है, तो उसे इनवोलंटरी यूथनेसिया कहा जाता है।

यदि चार वर्ष पूर्व के एक संदर्भ को देखें तो अरुणा शानबाग नामक महिला का उदाहरण इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है। जो लगभग 37 वर्षों से मुंबई के के०ई० एम० अस्पताल में बेसुध पड़ी अरुणा शानबाग की इच्छा मृत्यु की याचिका को सुप्रीम कोर्ट ने खारिज करते हुए कहा कि वह 'ब्रेन डेड' नहीं है। सुप्रीम कोर्ट ने कानून में नई व्यवस्था देते हुए परोक्ष इच्छा मृत्यु यानी पैसिव यूथनेसिया की इजाजत दे दी, पैसिव का अर्थ होगा मरीज़ के शरीर से चिकित्सा संबंधी सपोर्ट सिस्टम जैसी दवा की नली, वेंटीलेटर आदि हटा लेना। हालाँकि इसके लिए भी एक निश्चित प्रक्रिया से गुजरना होगा। मरीज़ के करीबी या रिश्तेदार इसकी अनुमति लेने के लिए अपने राज्य के उच्च न्यायालय में याचिका दायर करेंगे और मुख्य न्यायाधीश उसके लिए खंडपीठ बनाएंगे। खंडपीठ तीन चिकित्सकों की टीम का गठन करेगी और उनकी अनुशंसा पर अपना निर्णय सुनाएगी। कोर्ट ने यह कहा था कि अरुणा के बारे में ऐसा फैसला करने का हक़ के०ई० एम० अस्पताल स्टाफ को है, जो पिछले 37 वर्षों से उसकी देखभाल कर रहा है। याचिकाकर्ता पिंकी विरानी को अरुणा के बारे में फैसला करने का हक़ नहीं है। सुप्रीम कोर्ट ने कहा कि अगर भविष्य में के०ई०एम० अस्पताल स्टाफ अपना विचार बदलता है तो इस स्थिति में उसे अरुणा का जीवन रक्षक इलाज़ हटाने के लिए मुंबई हाई कोर्ट से अनुमति लेनी होगी। इस संदर्भ में मानवाधिकार कार्यकर्ता कॉलिन गोंजाल्विस का कथन उद्धृत करना महत्त्वपूर्ण होगा, उनका कहना है- " इच्छा- मृत्यु पर बात करने से पहले इसके दो पहलुओं को देखना होगा। इसका एक वह पहलू है जिसे अरुणा शानबाग के मामले से जोड़ सकते हैं। शानबाग की मृत्यु की माँग दूसरा व्यक्ति कर रहा है, खुद शानबाग नहीं, क्योंकि वह ऐसी स्थिति में नहीं है कि अपने जीने-मरने का फैसला कर सकें। दूसरा पहलू ऐसी इच्छा मृत्यु का है, जिसमें कोई व्यक्ति खुद ऐसी मृत्यु माँगता है। शानबाग के मामले में मेरा मत है कि उनके जीवन का अंत करने की इज़ाज़त हरगिज़ नहीं दी जानी चाहिए, हालांकि जब कोई व्यक्ति दिमागी रुप से सक्रिय है लेकिन इन लाइलाज़ बीमारियों के कारण भयंकर पीड़ा झेल रहा है, जिनमें रिकवरी की कोई संभावना नहीं है, तो अवश्य ऐसी माँग पर विचार किया जाना चाहिए। लेकिन इनके लिए भी देश में क़ायदे-क़ानून और दिशा निर्देश तय किए जाने चाहिए और यह काम कोर्ट पर नहीं छोड़ा जाए। इसे तय करे देश की संसद, वह इसके लिए एक स्पष्ट कानून बनाया।" [1] इस संदर्भ में यह प्रश्न विचारनीय है कि कानून मनुष्य के लिए है या मनुष्य कानून के लिए है?

भारत में कुछ अन्य ऐसे मामले सामने आए जहाँ मरीज़ के रिश्तेदार या स्वयं मरीज़ ने अपनी मृत्यु की इच्छा जताई। बिहार में पटना निवासी तारकेश्वर सिन्हा ने 2005 में राज्यपाल को यह याचिका दी कि सन् 2000 से बेहोश उनकी पत्नी कंचन देवी को दया मृत्यु दे दी जाये। हैदराबाद के निवासी 25 वर्षीय व्यंकटेश नामक शख़्स ने इच्छा जताई थी कि वह मृत्यु के पहले अपने सारे अंग दान करना चाहता है, किन्तु अदालत ने उनकी मांगें मंजूर नहीं की। केरल हाईकोर्ट द्वारा दिसम्बर 2001 में असाध्य रोग से पीड़ित बीके पिल्लई नामक व्यक्ति को इच्छा-मृत्यु की अनुमति इसलिए नहीं दी, क्योंकि भारत में ऐसा कोई क़ानून नहीं है। इसी प्रकार का एक अन्य उदाहरण 2005 में उड़ीसा के काशीपुर निवासी मोहम्मद युनूस अंसारी ने तत्कालीन राष्ट्रपति से अपील की थी कि उसके चार बच्चे असाध्य बीमारी से पीड़ित हैं तथा उनके इलाज के लिए उसके पास पैसा नहीं है, इसलिए उन्हें दया मृत्यु की इजाज़त दी जाए, किंतु उसकी अपील भी नामंज़ूर कर दी गई थी। इसका एकमात्र कारण है कि भारत में इच्छा-मृत्यु और दया-मृत्यु दोनों ही अवैधानिक कृत्य हैं, ऐसा करना भारतीय दंड विधान (आईपीसी) की धारा 309 के अंतर्गत आत्महत्या का अपराध माना गया है। वहीं दया-मृत्यु की स्थिति भी ऐसी ही है, यह बेशक मानवीय भावना से प्रेरित हो तथा पीड़ित व्यक्ति की असाध्य एवं असहनीय पीड़ा को समाप्त करने के लिए हो, वह भी भारतीय दंड विधान (आईपीसी) की धारा 304 के अंतर्गत हत्या का अपराध माना जाता है। [2] यह विचारणीय है कि क़ानून का जन्म मनुष्य को अन्याय, अत्याचार और कष्टों से मुक्ति देने के लिए हुआ है, परंतु क़ानून यदि स्थिर और जड़ हो जाए तो समाज की बदलती हुई परिस्थितियों में वह न्याय नहीं दे सकेगा। इसलिए यह ज़रूरी है कि क़ानून में भी समय-समय पर परिवर्तन होना चाहिए, उसकी नई व्याख्या होनी चाहिए। तमाम ऐसी बीमारियाँ हैं जिसका कोई इलाज संभव नहीं है, जहाँ

चिकित्सा-विज्ञान भी असहाय है। रोगी यातना से तड़पता रहता है, उसकी पीड़ा देखकर उसके रिश्तेदार भी दुखी होते हैं, रोगी और रिश्तेदार जानते हैं कि उसकी मृत्यु निश्चित है, किंतु रोगी व्यक्ति को पीड़ा और तड़पन का असाध्य समय काटना पड़ता है। सब चाहते हैं कि बीमार व्यक्ति को इस दारुण कष्ट से छुटकारा दे दिया जाए। परंतु कानून यहाँ मुक्ति के आगे दीवार की तरह खड़ा हो जाता है। क्या कानून ऐसी अवस्था से छुटकारा पाने की सुविधा नहीं दे सकता?

'फंदी' नाटक के परिप्रेक्ष्य में कई ऐसे प्रश्न डॉ० सुरेश गौतम ने अपनी पुस्तक में उठाए हैं,- "मानव की करुणा का अधिकारी क्या केवल जानवर है अथवा मानव भी है? क्या व्यवस्था के नियम और मूल्य मानवीय मूल्यों से अहम हैं? क्या समय की परिवर्तित धारा के साथ-साथ सामाजिक व्यवस्था के नियमों में परिवर्तन नहीं होना चाहिए? क्रौंच पक्षी की असहाय छटपटाहट से पाषाण हृदयी वाल्मीकि का हृदय विदीर्ण हो गया था, क्या पुत्र का हृदय बाल्मीकि के हृदय से भी कठोर और वज्र हो सकता है? निश्चित मृत्यु के असहाय क्षणों की पल-पल प्रतीक्षा की रोंगटे खड़ी कर देने वाली विभीषिका को समाप्त करना मानवीय करुणा है अथवा व्यवस्था के नियमों का उल्लंघन !..... इसे मुक्ति कहा जाए अथवा जघन्य हत्या का पाप?" [3] वस्तुतः नाटककार ने भी इन्हीं प्रश्नों को उठाया है और उनका उत्तर कानून व्यवस्था से माँगा है। इसी संदर्भ में एक दूसरा उदाहरण भी अवलोकनीय है, यद्यपि यह वास्तविक जीवन से संबंधित नहीं है परंतु यह इच्छा-मृत्यु से जुड़े महत्वपूर्ण प्रश्नों को बड़ी मार्मिकता से उदघाटित करता है। यह दूसरा उदाहरण है संजय लीला भंसाली निर्देशित हिंदी फिल्म 'गुज़ारिश' की कहानी, इस फिल्म के माध्यम से करीब 14 साल से व्हीलचेयर पर दूसरों के सहारे जिंदगी गुजारते एक नौजवान के माध्यम से इच्छा-मृत्यु के प्रश्न को अलग अंदाज में उठाने की पहल की गई है। लगभग 14 साल पहले एक दुर्घटना के बाद फ़िल्म का नायक एंथेन के शरीर के नीचे का हिस्सा लकवे का शिकार हो चुका है। वह हिल-डुल भी नहीं सकता। एंथेन मैस्क्रेनहास को ज़िंदगी के हर क़दम पर अपनी नर्स सोफ़िया का सहारा मिलता है। दोनों एक दूसरे को अच्छी तरह समझते हैं। सोफ़िया मन ही मन एंथेन को चाहती है, इनके बीच का यह खूबसूरत रिश्ता खामोशी के माध्यम से बहुत कुछ कहता है, लेकिन एंथेन अपनी जिंदगी से छुटकारा चाहता है। वह कोर्ट में इच्छा-मृत्यु की याचिका दायर करता है, उसके इस फैसले से सोफ़िया समेत उसके आस-पास रहने वाला हर शख्स बेहद हैरान और परेशान है।

समग्रतः कहा जाए तो इच्छा-मृत्यु से जुड़े प्रश्न बहुत ही जटिल हैं, इससे जुड़े कई नैतिक, माननीय, सामाजिक और क़ानूनी पहलू हैं। इसके विषय में कोई अंतिम और सर्वमान्य नियम अभी तय नहीं है, इस संवेदनशील मुद्दे पर व्यापक बहस की ज़रूरत है। एक ओर जहाँ लाइलाज बीमारी झेलने वाले लोगों की पीड़ा को समझने की ज़रूरत है वहीं इसकी भी आवश्यकता है कि क़ानूनी नियमों की आड़ में इच्छा-मृत्यु का दुरुपयोग भी ना हो पाये।

संदर्भ ग्रर्थ / स्रोत

1 जनसत्ता, 8 मार्च 2011, संपादकीय पृष्ठ- 6

2 https://hi.wikipedia.org

3 सुरेश गौतम- राजपथ से जनपथ नटशिल्पी शंकरशेष- पृष्ठ- 85